

Chapter चार

ब्रह्माण्ड में हिरण्यकशिपु का आतंक

इस अध्याय में पूरी तरह बताया गया है कि हिरण्यकशिपु ने किस तरह ब्रह्माजी से शक्ति प्राप्त की और फिर किस तरह इस ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों को तंग करने में उसका दुरुपयोग किया।

हिरण्यकशिपु ने कठोर तपस्या द्वारा ब्रह्माजी को प्रसन्न करके मनवांछित वर प्राप्त किये। इन वरों के प्राप्त होते ही उसका शरीर जो प्रायः पूरी तरह विनष्ट हो चुका था पूर्ण सौन्दर्य तथा स्वर्ण जैसी कान्ति से चैतन्य हो उठा। इतने पर भी वह भगवान् विष्णु से ईर्ष्या करता रहा और अपने भाई के वध को भुला नहीं पाया। उसने दशों दिशाएँ तथा तीनों लोक जीत लिए और देवताओं तथा असुरों समेत सभी जीवों को अपने वश में कर लिया। वह इन्द्र को उसके निवास से भगाकर सारे स्थानों का स्वामी बन गया और अत्यन्त विलासमय जीवन बिताने लगा अतः वह प्रमत्त हो उठा। भगवान् विष्णु, ब्रह्मा तथा शिवजी के अतिरिक्त सारे देवता उसके अधीन होकर उसकी सेवा करने लगे, किन्तु इतनी भौतिक शक्ति के बावजूद वह असन्तुष्ट था, क्योंकि वह वैदिक नियमों का उल्लंघन करने से गर्वित और फूला हुआ था। सारे ब्राह्मण उससे असन्तुष्ट थे और वे संकल्प करके उसे शाप देते थे। अन्ततोगत्वा ब्रह्माण्ड के सारे जीवों ने, जिनमें देवता तथा ऋषि भी थे, हिरण्यकशिपु के शासन से मुक्ति पाने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की।

भगवान् विष्णु ने देवताओं को बताया कि उन्हें तथा अन्य जीवों को हिरण्यकशिपु द्वारा उत्पन्न भयाक्रान्त परिस्थितियों से बचाया जाएगा। चूँकि हिरण्यकशिपु सारे देवताओं, वेदों के अनुयायियों, गायों, ब्राह्मणों तथा धार्मिक साधु पुरुषों का उत्पीड़क था और चूँकि वह परमेश्वर से द्वेष रखता था,

अतएव शीघ्र ही उसका वध किया जाएगा। हिरण्यकशिपु का अन्तिम कारनामा होगा अपने ही पुत्र प्रह्लाद को सताना जो एक महाभागवत परम वैष्णव थे। तब उसके जीवन का अन्त होगा। जब भगवान् ने देवताओं को इस तह आश्वस्त कर दिया तो हर एक प्राणी यह जानकर प्रसन्न हुआ कि शीघ्र ही हिरण्यकशिपु के कारण ढाये जानेवाले दुखों का अन्त हो जाएगा।

अन्त में नारद मुनि हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद महाराज के गुणों का वर्णन करते हैं और बतलाते हैं कि किस प्रकार एक पिता अपने ही योग्य पुत्र से ईर्ष्या करता है। इस प्रकार अध्याय का अन्त होता है।

श्रीनारद उवाच

एवं वृतः शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ ।
प्रादात्तत्पसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने आगे कहा; एवम्—इस प्रकार; वृतः—याचना की; शत-धृतिः—ब्रह्माजी ने; हिरण्यकशिपोः—हिरण्यकशिपु की; अथ—तब; प्रादात्—प्रदान किया; तत्—उसकी; तपसा—कठिन तपस्या से; प्रीतः—प्रसन्न होकर; वरान्—वरों को; तस्य—हिरण्यकशिपु को; सु-दुर्लभान्—अत्यन्त अप्राप्य।

नारद मुनि ने कहा : ब्रह्माजी हिरण्यकशिपु की दुष्कर तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न थे। अतएव जब उसने उनसे वर माँगे तो उन्होंने निस्सन्देह वे दुर्लभ वर प्रदान कर दिये।

श्रीब्रह्मोवाच

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान्त्वृणीषे वरान्मम ।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान्यद्यपि दुर्लभान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; तात—हे पुत्र; इमे—ये सभी; दुर्लभाः—बहुत कम प्राप्त होने वाले; पुंसाम्—मनुष्यों को; यान्—जो; वृणीषे—तुम माँगते हो; वरान्—वरों को; मम—मुझसे; तथापि—फिर भी; वितरामि—मैं तुम्हें प्रदान करूँगा; अङ्ग—हे हिरण्यकशिपु; वरान्—वरों को; यद्यपि—यद्यपि; दुर्लभान्—सामान्यतया प्राप्त न होने वाले।

ब्रह्माजी ने कहा : हे हिरण्यकशिपु, तुमने जो वर माँगे हैं, वे अधिकांश मनुष्यों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो पाते हैं। हे पुत्र, यद्यपि ये वर सामान्यतया उपलब्ध नहीं हो पाते, तथापि मैं तुम्हें प्रदान करूँगा।

तात्पर्य : भौतिक वर सही रूप में वर कहलाने योग्य नहीं होते। यदि किसी को अधिकाधिक वर मिलें तो ऐसा वर स्वयं में शाप बन सकता है, क्योंकि इस जगत में जिस तरह भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त

करने के लिए अत्यधिक शक्ति तथा प्रयास की आवश्यकता पड़ती है उसी तरह उसे बनाये रखने के लिए प्रयास की आवश्यकता पड़ती है। ब्रह्माजी ने हिरण्यकशिपु को बताया कि वे उसे उसके द्वारा माँगे वर दे तो रहे हैं, लेकिन उन्हें निभा पाना अत्यन्त कठिन होगा। फिर भी चूँकि ब्रह्मा ने वचन दिया था, अतएव वे उसके माँगे गये सारे वर दे देना चाहते थे। दुर्लभान् शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को चाहिए कि ऐसा वर न ले जिसे शान्तिपूर्वक भोगा न जा सके।

ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः ।
पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; जगाम—चले गये; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान, ब्रह्माजी; अमोघ—न चूकने वाले; अनुग्रहः—जिसका वर;
विभुः—इस ब्रह्माण्ड में सर्वश्रेष्ठ; पूजितः—पूजित होकर; असुर-वर्येण—अत्यन्त सम्माननीय असुर हिरण्यकशिपु द्वारा;
स्तूयमानः—प्रशंसित होकर; प्रजा-ईश्वरैः—अनेक देवताओं द्वारा, जो विभिन्न क्षेत्रों के स्वामी हैं।

तब अमोघ वर देने वाले ब्रह्माजी दैत्यों में श्रेष्ठ हिरण्यकशिपु द्वारा पूजित तथा महर्षियों एवं साधु पुरुषों द्वारा प्रशंसित होकर वहाँ से विदा हो गये।

एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रद्धेममयं वपुः ।
भगवत्यकरोद्द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; लब्ध-वरः—वांछित वरदान पाकर; दैत्यः—हिरण्यकशिपु; बिभ्रत्—प्राप्त करके; हेम-मयम्—सोने की कान्ति वाला; वपुः—शरीर; भगवति—भगवान् विष्णु के प्रति; अकरोत्—निभाया; द्वेषम्—ईर्ष्या; भ्रातुः वधम्—अपने भाई के वध को; अनुस्मरन्—सदैव सोचते हुए।

इस प्रकार ब्रह्मा जी से आशीष पाकर तथा कान्तियुक्त स्वर्णिम देह पाकर असुर हिरण्यकशिपु अपने भाई के वध का स्मरण करता रहा जिससे वह भगवान् विष्णु का ईर्ष्यालु बना रहा।

तात्पर्य : आसुरी मनुष्य इस ब्रह्माण्ड में प्राप्त होने योग्य सारे ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के बाद भी भगवान् का ईर्ष्यालु बना रहता है।

स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन्महासुरः ।
देवासुरमनुष्येन्द्रगन्धर्वगरुडोरगान् ॥ ५ ॥
सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन्पितृपतीन्मनून् ।

यक्षरक्षःपिशाचेशान्प्रेतभूतपतीनपि ॥ ६ ॥

सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित् ।

जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (हिरण्यकशिपु); विजित्य—जीतकर; दिशः—दिशाएँ; सर्वाः—सभी; लोकान्—लोकों को; च—भी; त्रीन्—तीन (उच्च, मध्य तथा निम्न); महा-असुरः—महान् दैत्य; देव—देवतागण; असुर—असुरगण; मनुष्य—मनुष्यों के; इन्द्र—राजा; गन्धर्व—गन्धर्वगण; गरुड—गरुड; उरगान्—बड़े-बड़े सर्पों को; सिद्ध—सिद्ध; चारण—चारण; विद्याधान्—विद्याधरों को; ऋषीन्—ऋषियों तथा साधु पुरुषों को; पितृ-पतीन्—यमराज तथा पितरों के अन्य नायकों को; मनून्—सारे मनुओं को; यक्ष—यक्षगण; रक्षः—रक्षसगण; पिशाच-ईशान्—पिशाच लोक के नायकों; प्रेत—प्रेतों; भूत—तथा भूतों के; पतीन्—स्वामियों को; अपि—भी; सर्व-सत्त्व-पतीन्—विभिन्न लोकों के स्वामियों को; जित्वा—जीतकर; वशम् आनीय—वश में करके; विश्व-जित्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विजेता; जहार—अधीन कर लिया; लोक-पालानाम्—उन देवताओं का जो विश्व का कार्य सँभालते हैं; स्थानानि—स्थान; सह—सहित; तेजसा—उनकी सारी शक्ति ।

हिरण्यकशिपु समग्र ब्रह्माण्ड का विजेता बन गया । इस महान् असुर ने तीनों लोकों—उच्च, मध्य तथा निम्न लोकों को जीत लिया जिसमें मनुष्यों, गन्धर्वों, गरुड़ों, महासर्पों, चारणों, विद्याधरों, महामुनियों, यमराजों, मनुष्यों, यक्षों, पिशाचों तथा उनके स्वामियों एवं भूत-प्रेतों के स्वामियों के लोक सम्मिलित थे । उसने उन सारे अन्य लोकों के शासकों को भी हरा दिया जहाँ-जहाँ जीव रहते थे और उन्हें अपने वश में कर लिया । सबों के निवासों को जीतकर उसने उनकी शक्ति तथा उनके प्रभाव को छीन लिया ।

तात्पर्य : इस श्लोक में गरुड शब्द यह सूचित करता है कि गरुड जैसे विशाल पक्षियों के भी लोक थे । इसी प्रकार उरग शब्द इंगित करता है कि विशाल सर्पों के भी लोक हैं । ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों का ऐसा वर्णन आधुनिक विज्ञानियों के लिए चुनौती स्वरूप है, जो यह सोचते हैं कि इस धरा लोक को छोड़कर सारे लोक शून्य हैं । विज्ञानी दावा करते हैं कि उन्होंने चन्द्र लोक की यात्राएँ की हैं जहाँ उन्हें कोई जीव नहीं मिले, केवल धूल तथा पत्थर के विशाल खड्डे मिले हैं, यद्यपि चन्द्रमा इतना चमकीला है कि समग्र ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने में सूर्य की तरह काम करता है । निस्सन्देह, आधुनिक विज्ञानियों को ब्रह्माण्ड विषयक वैदिक जानकारी के प्रति आश्चर्य कर पाना सम्भव नहीं है । तो भी हम विज्ञानियों की इन बातों से अत्यधिक प्रभावित नहीं हैं कि अन्य सारे लोक शून्य हैं और केवल पृथ्वी ही जीवों से पूर्ण है ।

देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्ते स्म त्रिपिष्टपम् ।

महेन्द्रभवनं साक्षान्निर्मितं विश्वकर्मणा ।

त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतनमध्युवासाखिलर्द्धिमत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

देव-उद्यान—देवताओं के प्रसिद्ध बगीचों का; श्रिया—ऐश्वर्य से; जुष्टम्—समृद्ध; अध्यास्ते स्म—रहता रहा; त्रि-पिष्टपम्—स्वर्ग लोक जहाँ देवतागण निवास करते हैं; महेन्द्र-भवनम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र का महल; साक्षात्—प्रत्यक्ष; निर्मितम्—बनाया हुआ; विश्वकर्मणा—देवताओं के प्रसिद्ध शिल्पी विश्वकर्मा द्वारा; त्रैलोक्य—तीनों लोकों का; लक्ष्मी-आयतनम्—सम्पत्ति की देवी का निवास; अध्युवास—निवास करती थीं; अखिल-ऋद्धि-मत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य सहित।

समस्त ऐश्वर्य से युक्त हिरण्यकशिपु स्वर्ग के सुप्रसिद्ध नन्दन उद्यान में रहने लगा, जिसका भोग देवता करते हैं। वस्तुतः वह स्वर्ग के राजा इन्द्र के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली महल में रहने लगा। इस महल को देवताओं के शिल्पी साक्षात् विश्वकर्मा ने निर्मित किया था और इसे इतने सुन्दर ढंग से बनाया गया था मानो सम्पूर्ण विश्व की लक्ष्मी वहीं निवास कर रही हो।

तात्पर्य : इस वर्णन से प्रतीत होता है कि उच्च लोक के सारे स्वर्ग लोक निम्न लोकों की तुलना में, जिसमें हम वास करते हैं, सैकड़ों गुना अधिक समृद्ध हैं। सुप्रसिद्ध स्वर्ग का शिल्पी विश्वकर्मा उच्च लोकों में अनेक अद्भुत इमारतें बनाने के लिए प्रसिद्ध है जहाँ न केवल सुन्दर इमारतें हैं, अपितु अनेक ऐश्वर्यशाली उद्यान तथा पार्क हैं जिन्हें नन्दन-देवोद्यान कहा जाता है अर्थात् वे जो देवताओं द्वारा भोगे जाने के सर्वथा उपयुक्त हैं। उच्च लोकों तथा उनके ऐश्वर्यों के इस वर्णन को वैदिक वाङ्मय जैसे प्रामाणिक साहित्य से समझा जा सकता है। उच्च लोकों का मूल्यांकन करने के लिए दूरबीन तथा अन्य अपूर्ण यंत्र अपर्याप्त होंगे। चूँकि तथाकथित विज्ञानियों की दृष्टि अपूर्ण है, अतएव ऐसे यंत्रों की आवश्यकता पड़ेगी, लेकिन ये यंत्र स्वयं भी अपूर्ण हैं। अतएव अधूरे व्यक्तियों द्वारा मानव निर्मित अपूर्ण यंत्रों की सहायता से उच्चलोकों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किन्तु वैदिक वाङ्मय से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्ण है। अतएव हम इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकते कि इस पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोकों में ऐश्वर्यशाली निवास स्थान नहीं हैं।

यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः ।

यत्र स्फाटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्कयः ॥ ९ ॥

यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च ।

पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥ १० ॥

कूजद्धिर्नूपुरैर्देव्यः शब्दयन्त्र इतस्ततः ।

रत्नस्थलीषु पश्यन्ति सुदतीः सुन्दरं मुखम् ॥ ११ ॥

तस्मिन्महेन्द्रभवने महाबलो

महामना निर्जितलोक एकराट् ।

रेमेऽभिवन्धाऽङ्घ्रियुगः सुरादिभिः

प्रतापितैरुर्जितचण्डशासनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ (इन्द्र के आवास में); विद्रुम-सोपाना:—मूँगे की सीढ़ियाँ; महा-मारकता:—मरकत; भुव:—फर्श; यत्र—जहाँ; स्फटिक—स्फटिक, क्रिस्टल की; कुड्यानि—दीवालें; वैदूर्य—वैदूर्य मणि के; स्तम्भ—ख भों की; पङ्कय:—कतारें; यत्र—जहाँ; चित्र—अद्भुत; वितानानि—चँदोवे; पद्मराग—मणियों से जड़े; आसनानि—आसन, बैठने के स्थान; च—भी; पय:—दूध का; फेन—झाग; निभा:—के सदृश; शय्या:—सेज, बिछौने; मुक्तादाम—मोतियों के; परिच्छदा:—किनारे वाले; कूजद्वि:—खनकती हुई; नूपुरै:—घुँघुआओं से; देव्य:—दैवी स्त्रियाँ; शब्द-यन्त्र:—मधुर ध्वनि करती हुई; इत: तत:—इधर उधर; रत्न-स्थलीषु—रत्नों से जटित स्थानों में; पश्यन्ति—देखती हैं; सु-दती:—सुन्दर दाँतों वाली; सुन्दरम्—सुन्दर; मुखम्—मुँह; तस्मिन्—उसमें; महेन्द्र-भवने—स्वर्ग के राजा के रिहायशी मकान में; महा-बल:—अत्यन्त शक्तिशाली; महा-मना:—अत्यधिक विचारवान; निर्जित-लोक:—सबों को वश में रखने वाला; एक-राट्—शक्तिशाली तानाशाह; रेमे—भोग किया; अभिवन्ध—पूजित; अङ्घ्रि-युग:—जिसके दोनों पैर; सुर-आदिभि:—देवताओं द्वारा; प्रतापितै:—उद्विग्न होकर; ऊर्जित—आशा से अधिक; चण्ड—कठिन; शासन:—जिसका शासन।

राजा इन्द्र के आवास की सीढ़ियाँ मूँगे की थीं, फर्श अमूल्य पत्थरों से जटित था, दीवालें स्फटिक की थीं और ख भे वैदूर्य मणि के थे। उसके अद्भुत वितान सुन्दर ढंग से सजाये गये थे, आसन मणियों से जटित थे और झाग के सदृश श्वेत रेशमी बिछौने मोतियों से सजाये गये थे। वे महल में इधर-उधर घूम रही थीं, उनके घुँघुआओं से मधुर झनकार निकल रही थी और वे रत्नों में अपने सुन्दर प्रतिबिम्ब देख रही थीं। किन्तु अत्यधिक सताये गये देवताओं को हिरण्यकशिपु के चरणों पर सिर झुकाना पड़ता था, क्योंकि उसने देवताओं को अकारण ही दण्डित कर रखा था। इस प्रकार हिरण्यकशिपु उस महल में रह रहा था और सबों पर कठोरता से शासन कर रहा था।

तात्पर्य : स्वर्ग लोक में हिरण्यकशिपु इतना शक्तिशाली हो गया था कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को छोड़कर शेष सारे देवताओं को उसकी सेवा करनी पड़ती थी। निस्सन्देह, वे अत्यधिक भयभीत रहते थे कि आज्ञा-उल्लंघन करने पर उन्हें कठोर दण्ड दिया जाएगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने हिरण्यकशिपु की तुलना महाराज वेन से की है, क्योंकि वह भी नास्तिक था और वेदवर्णित अनुष्ठानों का उपहास करता था। तो भी महाराज वेन भृगु जैसे कुछ महर्षियों से डरता था, किन्तु हिरण्यकशिपु इस प्रकार राज्य कर रहा था जिसमें विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव के अतिरिक्त सभी भयभीत थे। हिरण्यकशिपु भृगु जैसे महर्षियों की क्रोधाग्नि से भस्म होने से इतना सतर्क रहता था कि उसने अपनी तपस्या के बल पर उन्हें पिछाड़ दिया था और अपने अधीन कर रखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ग लोक में भी, जहाँ लोग

पुण्यकर्म करने के बाद ही जाते हैं, हिरण्यकशिपु जैसे असुरों के द्वारा उपद्रव किये जाते हैं। तीनों लोकों में कोई ऐसा नहीं जो बिना उपद्रव के सुख-शान्ति से रह सकता हो।

तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना
विवृत्तताप्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः ।
उपासतोपायनपाणिभिर्विना
त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (हिरण्यकशिपु को); अङ्ग—हे राजा; मत्तम्—मतवाला; मधुना—सुरा से; उरु-गन्धिना—तीक्ष्ण गन्ध वाली; विवृत्त—चढ़ी हुई; ताम्र-अक्षम्—ताँबे जैसी आँखों वाला; अशेष-धिष्ण्य-पाः—समस्त लोकों के प्रमुख व्यक्तियों ने; उपासत—पूजा की; उपायन—साज सामान से युक्त; पाणिभिः—अपने अपने हाथों से; विना—बिना, रहित; त्रिभिः—तीन प्रमुख देवता (विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव); तपः—तपस्या; योग—योग शक्ति; बल—शारीरिक शक्ति; ओजसाम्—इन्द्रियों की शक्ति; पदम्—धाम।

हे राजा, हिरण्यकशिपु सदा ही तीक्ष्ण गन्ध वाली सुरा पिये रहता था, अतएव उसकी ताम्र जैसी (लाल) आँखें सदैव चढ़ी रहती थीं। फिर भी चूँकि उसने योग की महान् तपस्या की थी और यद्यपि वह निन्दनीय था, किन्तु तीन देवताओं—ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु—के अतिरिक्त सारे देवता अपने-अपने हाथों में विविध भेंटें लेकर उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी सेवा करते थे।

तात्पर्य : स्कन्द पुराण में वर्णन आया है—उपायनं ददुः सर्वे विना देवान् हिरण्यकः। हिरण्यकशिपु इतना शक्तिशाली था कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीन देवों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति उसकी सेवा में लगा रहता था। मध्वाचार्य कहते हैं—आदित्या वसवोरुद्रास्त्रिविधा हि सुरा यतः। देवता तीन प्रकार के हैं—आदित्य, वसु तथा रुद्र, जिनके नीचे अन्य सारे देवता यथा मरुत तथा साध्य हैं। (मरुतश्चैव विश्वे च साध्याश्चैव च तद्गताः) अतएव सारे देवता त्रिपिष्टप कहलाते हैं और वही त्रि शब्द ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के लिए भी प्रयुक्त होता है।

जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं
विश्वावसुस्तुम्बुरुस्मदादयः ।
गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन्मुहु-
र्विद्याधराश्चाप्सरसश्च पाण्डव ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

जगुः—यश गान किया; महेन्द्र-आसनम्—राजा इन्द्र का सिंहासन; ओजसा—निजी शक्ति से; स्थितम्—स्थित; विश्वावसुः—गन्धर्वों का मुख्य गायक; तुम्बुरुः—अन्य गन्धर्व गायक; अस्मत्-आदयः—हम सहित (नारद तथा अन्यो ने भी हिरण्यकशिपु

का यशोगान किया); गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; सिद्धा:—सिद्ध लोक के वासी; ऋषय:—बड़े-बड़े ऋषि तथा साधु पुरुष; अस्तुवन्—स्तुतियाँ की; मुहु:—पुनःपुनः; विद्याधरा:—विद्याधर लोक के वासी; च—तथा; अप्सरस:—अप्सर लोक के वासी; च—तथा; पाण्डव—हे पाण्डु के वंशज ।

हे पाण्डु के वंशज महाराज युधिष्ठिर, हिरण्यकशिपु ने राजा इन्द्र के सिंहासन पर आसीन होकर अपने निजी बल से अन्य सारे लोकों के निवासियों को वश में किया। विश्वावसु तथा तुम्बुरु नामक दो गन्धर्व, मैं तथा विद्याधर, अप्सराएँ एवं साधुओं ने उसका यशोगान करने के लिए बारम्बार उसकी स्तुतियाँ की।

तात्पर्य : कभी-कभी असुरगण इतने शक्तिशाली हो उठते हैं कि नारद मुनि तथा उन्हीं जैसे भक्तों भी अपनी सेवा में लगा सकते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि नारद हिरण्यकशिपु के अधीन थे। किन्तु कभी-कभी इस जगत में ऐसा हो जाता है कि महापुरुष, यहाँ तक कि बड़े-बड़े भक्त भी, असुरों द्वारा नियंत्रित हो सकते हैं।

स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत्स्वेन तेजसा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स:—वह (हिरण्यकशिपु); एव—निस्सन्देह; वर्ण-आश्रमिभिः—चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के विधि-विधानों को कड़ाई से पालने वाले व्यक्तियों द्वारा; क्रतुभिः—अनुष्ठानों द्वारा; भूरि—प्रचुर; दक्षिणैः—दक्षिणा से; इज्यमानः—पूजित होकर; हविः-भागान्—आहुति का अंश; अग्रहीत्—छीन लेता; स्वेन—अपने; तेजसा—तेज से ।

वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले पुरुष बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ करके उसकी पूजा करते, तो वह यज्ञों की आहुतियाँ देवताओं को न देकर स्वयं ले लेता था।

अकृष्टपच्या तस्यासीत्सप्तद्वीपवती मही ।
तथा कामदुघा गावो नानाश्चर्यपदं नभः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अकृष्ट-पच्या—बिना जोते बोये अन्न देने वाली; तस्य—हिरण्यकशिपु के; आसीत्—थी; सप्त-द्वीप-वती—सात द्वीपों वाली; मही—पृथ्वी; तथा—उसी तरह; काम-दुघा:—इच्छानुसार दूध देने वाली; गावः—गायें; नाना—विविध; आश्चर्य-पदम्—अनोखी वस्तुएँ; नभः—आकाश ।

ऐसा प्रतीत होता है मानों सात द्वीपों वाली पृथ्वी हिरण्यकशिपु के भय से, बिना जोते बोये ही अन्न प्रदान करती थी। इस प्रकार यह वैकुण्ठ लोक की सुरभि या स्वर्गलोक की कामदुधा गायों के समान थी। पृथ्वी पर्याप्त अन्न प्रदान करती, गाएँ प्रचुर दूध देतीं तथा आकाश अनोखी घटनाओं से सुसज्जित रहता था।

रत्नाकराश्च रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहूर्मिभिः ।
क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

रत्नाकराः—समुद्र; च—तथा; रत्न-ओघान्—विविध प्रकार के मूल्यवान मणि; तत्-पत्न्यः—समुद्रों की पत्नियाँ अर्थात् नदियाँ;
च—भी; ऊहुः—ले जाती थीं; ऊर्मिभिः—अपनी-अपनी लहरों से; क्षार—खारा समुद्र; सीधु—सुरा सागर; घृत—घी का सागर;
क्षौद्र—ईख रस का सागर, इक्षु सागर; दधि—दही का सागर; क्षीर—दूध का सागर; अमृत—तथा अत्यन्त मीठा सागर;
उदकाः—जल।

ब्रह्माण्ड के विविध सागर अपनी पत्नियों स्वरूप नदियों तथा उनकी सहायक नदियों की लहरों से हिरण्यकशिपु के उपयोग हेतु विविध प्रकार के रत्नों की पूर्ति करते थे। ये सागर लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दुग्ध, दही तथा मीठे जल के थे।

तात्पर्य : जैसाकि हम सबों को अनुभव है, इस लोक के समुद्रों का पानी खारा है किन्तु इस ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों के समुद्र इक्षु, सुरा, घी, दुग्ध तथा मीठे जल के हैं। नदियों की तुलना अलंकारिक भाषा में समुद्रों की पत्नियों से की गई है, क्योंकि सारी नदियाँ समुद्रों में उसी तरह बहकर जाती हैं जिस प्रकार पत्नियाँ अपने पतियों पर आसक्त रहती हैं। आधुनिक विज्ञानी अन्य लोकों की सैर के प्रयास करते हैं, लेकिन उन्हें इसकी कोई जानकारी नहीं है कि ब्रह्माण्ड के भीतर कितने प्रकार के समुद्र हैं। उनके अनुभव के अनुसार चन्द्रमा धूल से पूर्ण है, किन्तु इससे इसकी व्याख्या नहीं हो पाती कि लाखों मील दूर रह कर भी चन्द्रमा किस प्रकार शीतल किरणें प्रदान करता है। जहाँ तक हमारी बात है, हम तो व्यासदेव तथा शुकदेव गोस्वामी को प्रमाण मानते हैं जिन्होंने वैदिक साहित्य के अनुसार विश्व की स्थिति का वर्णन किया है। ये विद्वान उन आधुनिक विज्ञानियों से भिन्न मत रखते हैं, जो अपने अपूर्ण ऐन्द्रिय अनुभव से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इसी लोक में जीव रहते हैं और अन्य लोक या तो शून्य हैं या धूल से भरे हैं।

शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान्द्रुमाः ।
दधार लोकपालानामेक एव पृथग्गुणान् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

शैलाः—पर्वत तथा पहाड़ियाँ; द्रोणीभिः—बीच की घाटियों सहित; आक्रीडम्—हिरण्यकशिपु की क्रीड़ा स्थली; सर्व—सभी;
ऋतुषु—सभी ऋतुओं में; गुणान्—विभिन्न प्रकार के गुण (फल तथा फूल); द्रुमाः—पौधे; दधार—सम्पन्न किया; लोक-
पालानाम्—विभिन्न विभागों के लिए अध्यक्ष; एकः—अकेला; एव—निस्सन्देह; पृथक्—भिन्न; गुणान्—गुण।

पर्वतों के मध्य की घाटियाँ हिरण्यकशिपु की क्रीड़ास्थली बन गई जिसके प्रभाव से सभी

पौधे सभी ऋतुओं में प्रभूत फूल तथा फल देने लगे। जल वृष्टि कराना, सुखाना तथा जलाना जो विश्व के तीन विभागाध्यक्षों इन्द्र, वायु तथा अग्नि के गुण हैं, वे अब देवताओं की सहायता के बिना अकेले हिरण्यकशिपु द्वारा निर्देशित होने लगे।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहा गया है—तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः—यह भौतिक जगत अग्नि, जल तथा पृथ्वी के द्वारा संचालित है और ये सब मिलकर आकार ग्रहण करते हैं। यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि तीन प्रकार के गुण (पृथग् गुणान्) पृथक्-पृथक् देवताओं के निर्देशन में काम करते हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र पर जलवृष्टि का भार है, वायुदेवता वायु को वश में करके जल को सुखाता है और अग्नि देवता प्रत्येक वस्तु को जलाता है। किन्तु हिरण्यकशिपु अपने योगबल से इतना शक्तिशाली बन गया था कि उसने देवताओं से किसी प्रकार की सहायता लिए बिना अकेले ही सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया।

स इत्थं निर्जितककुबेकराड्विषयान्प्रियान् ।

यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (हिरण्यकशिपु); इत्थम्—इस प्रकार; निर्जित—जीत लीं; ककुप्—सारी दिशाएँ; एक-राट्—एकछत्र सम्राट्; विषयान्—इन्द्रियविषयों को; प्रियान्—अत्यन्त प्रिय; यथा-उपजोषम्—यथासम्भव; भुञ्जानः—भोग करते हुए; न—नहीं; अतृप्यत्—सन्तुष्ट था; अजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण।

समस्त दिशाओं को वश में करने की शक्ति प्राप्त करके तथा यथासम्भव सभी प्रकार की इन्द्रिय-तृप्ति का भोग करने के बावजूद हिरण्यकशिपु असन्तुष्ट रहा, क्योंकि वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने के बजाय उनका दास बना रहा।

तात्पर्य : यह आसुरी जीवन का एक उदाहरण है। भले ही नास्तिक लोग भौतिक दृष्टि से प्रगति कर लें और इन्द्रियों के लिए अत्यन्त सुखमय परिस्थिति उत्पन्न कर लें, किन्तु इन्द्रियों के वशीभूत होने के कारण वे कभी तुष्ट नहीं होते। यह आधुनिक सभ्यता का प्रभाव है। भौतिकतावादी व्यक्ति धन तथा स्त्रियों का भोग करने में बहुत आगे बढ़े रहते हैं फिर भी मानव समाज में असन्तोष व्याप्त रहता है, क्योंकि कृष्णभावनामृत के बिना मानव समाज कभी सुखी एवं शान्त नहीं रह सकता। जहाँ तक इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न है, भौतिकतावादी अपने भोग को अपनी कल्पना भर बढ़ाते जा सकते हैं, किन्तु ऐसी भौतिक स्थिति में लोग अपनी इन्द्रियों के दास बने रहते हैं, अतएव वे तुष्ट नहीं रह सकते।

हिरण्यकशिपु मानवता की इस असन्तुष्ट दशा का ज्वलन्त उदाहरण था।

एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।

कालो महान्व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ऐश्वर्य-मत्तस्य—ऐश्वर्य से मदान्ध रहने वाले का; दृप्तस्य—अत्यन्त गर्वित; उच्छास्त्र-वर्तिनः—शास्त्रों में वर्णित विधि-विधानों का उल्लंघन करते हुए; कालः—अवधि; महान्—महान्; व्यतीयाय—बिता दिया; ब्रह्म-शापम्—प्रतिष्ठित ब्राह्मणों का श्राप; उपेयुषः—प्राप्त करके।

इस प्रकार अपने ऐश्वर्य से अत्यधिक गर्वित एवं प्रामाणिक शास्त्रों के विधि-विधानों का उल्लंघन करते हुए हिरण्यकशिपु ने काफी समय बिताया। अतएव उसे चार कुमारों ने, जो कि प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे, शाप दे दिया।

तात्पर्य : ऐसे अनेक दृष्टान्त प्राप्त हैं जब ऐश्वर्य प्राप्त करने के बाद असुर इतने गर्वीले हो उठे कि उन्होंने प्रामाणिक शास्त्रों में दिये गये नियमों का उल्लंघन किया। हिरण्यकशिपु ने यही किया। जैसाकि भगवद्गीता (१६.२३) में कहा गया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

“जो व्यक्ति आध्यात्मिक आदेशों की अवज्ञा करता है और स्वेच्छा से कर्म करता है उसे न तो सिद्धि प्राप्त होती है, न सुख, न ही परम गति प्राप्त हो पाती है।” शास्त्र शब्द हमारे कार्यकलापों को नियंत्रित करने वाले के रूप में आया है। हम शास्त्रों में उल्लिखित नियमों तथा विधि-विधानों का अतिक्रमण या उल्लंघन नहीं कर सकते। इसकी पुष्टि भगवद्गीता में बारम्बार मिलती है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

“मनुष्य को चाहिए कि शास्त्रों के नियमों द्वारा जाने कि क्या कर्तव्य है और क्या नहीं है। ऐसे विधि-विधानों को जानकर मनुष्य को चाहिए कि कर्म करे जिससे उसका क्रमिक उत्थान हो सके।” (भगवद्गीता १६.२४) मनुष्य को शास्त्रों के निर्देशानुसार कर्म करना चाहिए, किन्तु माया इतनी प्रबल है कि ज्योंही कोई ऐश्वर्यवान् बन जाता है कि त्योंही शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन करने लगता है। किन्तु वह ज्योंही इस तरह उल्लंघन करता है त्योंही कि उसके विनाश का मार्ग खुल जाता है।

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः ।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी (हिरण्यकशिपु की); उग्र-दण्ड—अत्यन्त भयावह ताड़ना से; संविग्नाः—विचलित; सर्वे—सभी; लोकाः—सारे लोक; स-पालकाः—अपने प्रधान शासकों सहित; अन्यत्र—अन्य कहीं; अलब्ध—न प्राप्त करके; शरणाः—शरण; शरणम्—शरण के लिए; ययुः—पास आये; अच्युतम्—भगवान् के ।

हिरण्यकशिपु द्वारा दिये गये कठोर दण्ड से सभी व्यक्ति, यहाँ तक कि विभिन्न लोकों के शासक भी, अत्यधिक पीड़ित थे। वे अत्यन्त भयभीत तथा उद्विग्न होकर और अन्य किसी की शरण न पा सकने के कारण अन्ततः भगवान् विष्णु की शरण में आये।

तात्पर्य : भगवद्गीता (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

“मुनिगण मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का चरम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर तथा समस्त जीवों का उपकारी तथा शुभचिन्तक जानकर भौतिक यातनाओं से शान्ति-लाभ करते हैं।” भगवान् कृष्ण वस्तुतः हर एक के श्रेष्ठ मित्र हैं। विपत्ति या दुख में शुभचिन्तक मित्र की खोज की जाती है और ऐसे ही परम शुभचिन्तक भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अतएव विभिन्न लोकों के सारे निवासी अन्य कोई शरण न पाकर अपने परम मित्र के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने के लिए बाध्य हो गए। यदि हम प्रारम्भ से ही परम मित्र की शरण खोजते रहें तो किसी प्रकार के भय का कोई कारण नहीं उठता। कहा गया है कि यदि जल में तैरते हुए कुत्ते की पूँछ पकड़ कर कोई व्यक्ति समुद्र पार करना चाहे तो वह निस्सन्देह मूर्ख है। इसी प्रकार विपत्ति के समय जो व्यक्ति देवताओं की शरण में जाता है, वह मूर्ख है, क्योंकि उसके सारे प्रयास व्यर्थ होंगे। हर परिस्थिति में मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की शरण ग्रहण करे। तब किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा।

तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः ॥ २२ ॥

इति ते संयतात्मानः समाहितधियोऽमलाः ।

उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्यै—उस; नमः—हमारा सादर नमस्कार; अस्तु—हो; काष्ठायै—दिशा को; यत्र—जहाँ; आत्मा—परमात्मा; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—परम नियन्ता; यत्—जो; गत्वा—जाकर; न—कभी नहीं; निवर्तन्ते—लौटते हैं; शान्ताः—शान्त; सन्न्यासिनः—संन्यासीगण; अमलाः—शुद्ध; इति—इस प्रकार; ते—वे; संयत-आत्मानः—मनों को वश में करके; समाहित—सुस्थिर; धियः—बुद्धि; अमलाः—शुद्ध की गई; उपतस्थुः—पूजा की; हृषीकेशम्—इन्द्रियों के स्वामी की; विनिद्राः—बिना सोये; वायु-भोजनाः—केवल वायु ले कर।

“हम उस दिशा को सादर नमस्कार करते हैं जहाँ भगवान् स्थित हैं, जहाँ संन्यास आश्रम में रहने वाले विशुद्ध आत्मा महान् साधु पुरुष जाते हैं और जहाँ जाकर वे फिर कभी नहीं लौटते।” बिना सोये, अपने मनों को पूर्णतया वश में करके तथा केवल अपनी श्वास पर जीवित रहकर विभिन्न लोकपालों ने इस ध्यान से हृषीकेश की पूजा करनी प्रारम्भ की।

तात्पर्य : तस्यै काष्ठायै—ये दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् अपने ब्रह्म तथा परमात्मा रूप में सर्वत्र, प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक हृदय में तथा प्रत्येक परमाणु में विद्यमान हैं। तो फिर तस्यै काष्ठायै—“उस दिशा में जहाँ हरि स्थित हैं” कहने का क्या प्रयोजन है? हिरण्यकशिपु के काल में उसका प्रभाव सर्वत्र था, किन्तु उसका प्रभाव उन स्थानों पर न था जहाँ भगवान् ने लीलाएँ की थीं। उदाहरणार्थ, इस पृथ्वी लोक में वृन्दावन या अयोध्या जैसे स्थान हैं, जिन्हें धाम कहा जाता है। धामों में कलियुग का या किसी असुर का प्रभाव नहीं रहता। यदि कोई ऐसे धाम में आश्रय ग्रहण करता है, तो भगवान् की पूजा करना सुगम होती है और आध्यात्मिक उन्नति भी जल्दी होती है। वास्तव में आज भी कोई व्यक्ति भारत में वृन्दावन तथा ऐसे ही अन्य स्थानों में जाकर तुरन्त ही आध्यात्मिक कर्मों का फल प्राप्त कर सकता है।

तेषामाविरभूद्वाणी अरूपा मेघनिःस्वना ।

सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्करी ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—सबों के समक्ष; आविरभूत्—प्रकट हुई; वाणी—आवाज; अरूपा—रूपविहीन; मेघ-निःस्वना—बादल की सी ध्वनि करती; सन्नादयन्ती—कम्पन उत्पन्न करती; ककुभः—सभी दिशाएँ; साधूनाम्—साधु पुरुषों की; अभयङ्करी—अभय करने वाली।

तब उन सबों के समक्ष दिव्य वाणी प्रकट हुई जो भौतिक नेत्रों से अदृश्य पुरुष से निकली थी। यह वाणी मेघ की ध्वनि के समान गम्भीर थी और यह अत्यन्त प्रोत्साहन देने वाली तथा सभी प्रकार का भय भगाने वाली थी।

मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः ।
 महर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये ॥ २५ ॥
 ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य यत् ।
 तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत्प्रतीक्षत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; भैष्ट—डरो; विबुध-श्रेष्ठाः—हे श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषों; सर्वेषाम्—सबों का; भद्रम्—कल्याण करना, जो पूर्ण सत्य है; अस्तु—हो; वः—तुम्हारा; मत्-दर्शनम्—मेरा दर्शन (मेरी प्रार्थना या मेरा श्रवण करना, जो पूर्ण सत्य है); हि—निस्सन्देह; भूतानाम्—समस्त जीवों का; सर्व-श्रेय—समस्त कल्याण की; उपपत्तये—प्राप्ति के लिए; ज्ञातम्—ज्ञात; एतस्य—इसका; दौरात्म्यम्—दुष्कर्म; दैतेय-अपसदस्य—महान् असुर हिरण्यकशिपु का; यत्—जो; तस्य—उसकी; शान्तिम्—समाप्ति; करिष्यामि—करूँगा; कालम्—काल, समय की; तावत्—तब तक; प्रतीक्षत—प्रतीक्षा करो।

भगवान् की वाणी इस प्रकार गुंजायमान हुई—“हे परम श्रेष्ठ विद्वानो, डरो मत। तुम सब का कल्याण हो। तुम सभी मेरे श्रवण तथा कीर्तन द्वारा एवं मेरी स्तुति से मेरे भक्त बनो, क्योंकि इन सब का उद्देश्य सभी जीवों को आशीष देना है। मैं हिरण्यकशिपु के कार्यकलापों से परिचित हूँ और मैं उन्हें शीघ्र ही रोक दूँगा। तब तक तुम मेरी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो।

तात्पर्य : कभी-कभी लोग ईश्वर के दर्शन के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते हैं। इस श्लोक में आगत महर्शनम् शब्द पर विचार करते हुए यह ध्यान देना होगा कि भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं भक्त्या मामभिजानाति। दूसरे शब्दों में, भगवान् को समझने या उनका दर्शन करने अथवा उनसे बातें करने की सामर्थ्य मनुष्य की भक्ति सम्बन्धी प्रगति पर निर्भर करती है। भक्ति के नौ प्रकार के विभिन्न कार्य-कलाप होते हैं—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। चूँकि ये भक्ति-कार्य श्रेष्ठ होते हैं, अतएव मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा करने, उनका दर्शन करने एवं उनके गुणगान करने में कोई आधारभूत अन्तर नहीं। निस्सन्देह, ये सभी विधियाँ हैं उनके दर्शन की, क्योंकि भक्ति में किया गया प्रत्येक कार्य भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क का साधन होता है। भगवान् की वाणी की गूँज समस्त भक्तों के समक्ष प्रकट हुई अतः इस वाणी को उच्चारित करने वाला व्यक्ति यद्यपि अदृश्य था, तो भी वे भगवान् से भेंट कर रहे थे या उनका दर्शन कर रहे थे, क्योंकि वे सभी स्तुति कर रहे थे और भगवान् की वाणी विद्यमान थी। भौतिक जगत के नियमों से सर्वथा विपरीत भगवान् के दर्शन करने, उनकी स्तुति करने तथा उनकी दिव्य वाणी सुनने में कोई अन्तर नहीं होता। अतएव शुद्ध भक्त भगवान् की महिमा का गायन करके ही पूर्णरूपेण प्रसन्न रहते हैं। ऐसा

महिमा-गायन कीर्तन कहलाता है। कीर्तन करना और हरे कृष्ण ध्वनि का श्रवण वास्तव में भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। मनुष्य को इस स्थिति का अनुभव करना चाहिए। तभी वह भगवान् के कार्यकलापों की परम प्रकृति को समझ सकेगा।

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु ।
धर्मं मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; देवेषु—देवताओं में; वेदेषु—वेदों में; गोषु—गायों में; विप्रेषु—ब्राह्मणों में; साधुषु—साधु पुरुषों में; धर्म—
धार्मिक नियमों में; मयि—मुझ भगवान् में; च—तथा; विद्वेषः—ईर्ष्यालु; सः—ऐसा व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; आशु—शीघ्र ही;
विनश्यति—विनष्ट हो जाता है।

जब कोई व्यक्ति भगवान् के प्रतिनिधि देवताओं, समस्त ज्ञान के दाता वेदों, गायों, ब्राह्मणों, वैष्णवों, धार्मिक सिद्धान्तों तथा अन्ततः मुझ भगवान् से ईर्ष्या करता है, तो वह तथा उसकी सभ्यता दोनों अविलम्ब नष्ट हो जाएंगी।

निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने ।
प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्वनिष्येऽपि वरोर्जितम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

निर्वैराय—शत्रुहीन; प्रशान्ताय—अत्यन्त गम्भीर तथा शान्त; स्व-सुताय—अपने ही पुत्र को; महा-आत्मने—महान् भक्त;
प्रह्लादाय—प्रह्लाद महाराज को; यदा—जब; द्रुह्येत्—सतायेगा; हनिष्ये—मैं मारूँगा; अपि—यद्यपि; वर-ऊर्जितम्—ब्रह्मा द्वारा
वर प्राप्त।

जब हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र परम भक्त प्रह्लाद को सतायेगा, जो अत्यन्त शान्त, गम्भीर तथा शत्रुहित है, तो मैं ब्रह्मा के समस्त वरों के होते हुए भी उसका तुरन्त ही वध कर दूँगा।

तात्पर्य : समस्त पापों में सबसे घोर पाप है शुद्ध भक्त या वैष्णव के प्रति अपराध। एक वैष्णव के चरणकमलों पर किया गया अपराध इतना घातक होता है कि श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसकी तुलना उस प्रमत्त हाथी से की है, जो उद्यान में घुस कर अनेक पौधों तथा वृक्षों को उखाड़ कर अत्यन्त उपद्रव मचा देता है। यदि कोई किसी ब्राह्मण या वैष्णव के चरणकमलों के प्रति अपराधी है, तो उसके अपराध उसके समस्त पुण्यकर्मों का उच्छेद कर देते हैं। अतएव मनुष्य को सतर्क रहना चाहिए कि वैष्णव-अपराध न हो। यहाँ पर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त थे, किन्तु उसने ज्योंही अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज के चरणकमलों पर अपराध किया कि उसके

सारे वरदान व्यर्थ हो जाएंगे। यहाँ पर प्रह्लाद महाराज जैसे वैष्णव को *निर्वैर* अर्थात् शत्रुविहीन बतलाया गया है। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (३.२५.२१) कहा गया है कि *अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः*—भक्त के कोई शत्रु नहीं होता, वह शान्त होता है, वह शास्त्रों के आदेशों का पालन करता है और उसके सभी व्यवहार शुद्ध होते हैं, वह शत्रुता मोल नहीं लेता, किन्तु यदि कोई उसका शत्रु बनता है, तो भगवान् उसका संहार कर देंगे चाहे उसे कहीं से कितने ही वरदान क्यों न प्राप्त हों। निश्चय ही हिरण्यकशिपु अपनी तपस्या के फलों को भोग रहा था, किन्तु यहाँ पर भगवान् कहते हैं कि वह ज्योंही प्रह्लाद महाराज के चरणकमलों पर अपराध करेगा कि उसका विनाश कर दिया जाएगा। अपने पुण्यों के परिणामस्वरूप किसी की दीर्घायु, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, शिक्षा तथा उसकी सम्पत्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकते यदि वह वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है। सब कुछ होते हुए भी यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है, तो वह विनष्ट हो जाएगा।

श्रीनारद उवाच

इत्युक्ता लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवोकसः ।
न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चासुरं हतम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—परम साधु नारद मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्ताः—सम्बोधित; लोक-गुरुणा—सबों के परम गुरु द्वारा; तम्—उसको; प्रणम्य—प्रणाम करके; दिवोकसः—सारे देवता; न्यवर्तन्त—लौट गये; गत-उद्वेगाः—सारी चिन्ताओं से मुक्त; मेनिरे—उन्होंने विचार किया; च—भी; असुरम्—असुर (हिरण्यकशिपु) को; हतम्—मारा हुआ।

परम साधु नारद मुनि ने आगे कहा : जब सबों के गुरु भगवान् ने स्वर्ग में रहने वाले सभी देवताओं को इस तरह आश्चस्त कर दिया तो उन सबों ने उन्हें प्रणाम किया और विश्वस्त होकर लौट आये कि अब तो हिरण्यकशिपु एक तरह से मर चुका है।

तात्पर्य : वे अल्पबुद्धि लोग जो सदैव देवताओं की ही पूजा में व्यस्त रहते हैं उन्हें यह ध्यान देना चाहिए कि जब जब देवताओं को असुर सताते हैं तब तब वे अपनी रक्षा के लिए भगवान् के पास पहुँचते हैं। जब देवतागण भगवान् के पास जाते हैं, तो फिर देवताओं के वे पूजक अपनी वाञ्छित कामनाओं के लिए परमेश्वर के पास क्यों नहीं जाते? *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

“कोई कुछ चाहे या कुछ भी न चाहे अथवा भगवान् से तादात्म्य चाहे, वह तभी बुद्धिमान कहलाता है जब वह दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् की पूजा करता है। चाहे कोई कर्मी हो, अथवा ज्ञानी या योगी, यदि वह किसी विशेष वर की पूर्ति चाहता है भले ही वर भौतिक क्यों न हो तो उसे भगवान् के पास जाकर प्रार्थना करनी चाहिए क्योंकि तब उसकी पूर्ति होगी। किसी भी इच्छा-पूर्ति के लिए किसी देवता के पास अलग से जाने की आवश्यकता नहीं।”

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।
प्रह्लादोऽभूमहांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (हिरण्यकशिपु); दैत्य-पतेः—दैत्यों के राजा के; पुत्राः—पुत्रगण; चत्वारः—चार; परम-अद्भुताः—अत्यन्त योग्य तथा अद्भुत; प्रह्लादः—प्रह्लाद नामक; अभूत्—था; महान्—सबसे बड़ा; तेषाम्—उनमें से; गुणैः—दिव्य गुणों के कारण; महत्-उपासकः—भगवान् का अनन्य भक्त होने के कारण।

हिरण्यकशिपु के चार अद्भुत सुयोग्य पुत्र थे जिसमें से प्रह्लाद नामक पुत्र सर्वश्रेष्ठ था। निस्सन्देह प्रह्लाद समस्त दिव्य गुणों की खान थे, क्योंकि वे भगवान् के अनन्य भक्त थे।

तात्पर्य : यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः—जिसकी कृष्ण पर अविचल भक्तिमयी निष्ठा है, उसमें कृष्ण तथा देवताओं के सारे गुण निरन्तर प्रकट होते हैं (भागवत ५.१८.१२)। यहाँ पर समस्त सद्गुणों की खान प्रह्लाद महाराज की प्रशंसा उनके द्वारा भगवान् के पूजन के कारण की गई। अतएव ऐसे शुद्ध भक्त में जो निष्काम होता है समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक सद्गुण पाये जाते हैं। यदि कोई कट्टर किन्तु उदार भगवद्भक्त होने के कारण आध्यात्म में बढ़ा-चढ़ा होता है, तो उसके शरीर में सारे सद्गुण प्रकट हो जाते हैं। दूसरी ओर, हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः—यदि कोई भक्त नहीं है, तो उसमें जो कुछ भौतिक सद्गुण होते हैं, वे भी व्यर्थ होते हैं। यह वेदों का निर्णय है।

ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकप्रियसुहृत्तमः ।
दासवत्सन्नतर्याङ्घ्रिः पितृवद्दीनवत्सलः ॥ ३१ ॥
भ्रातृवत्सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः ।
विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यः—अच्छे ब्राह्मण के समान सुसंस्कृत; शील-सम्पन्नः—समस्त सदगुणों से युक्त; सत्य-सन्धः—परम सत्य को जानने के लिए कृतसंकल्प; जित-इन्द्रियः—इन्द्रियों तथा मन को पूरी तरह वश में करते हुए; आत्म-वत्—परमात्मा के समान; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों का; एक-प्रिय—एकमात्र प्यारा; सुहृत्-तमः—सर्वश्रेष्ठ मित्र; दास-वत्—नीच सेवक की तरह; सन्नत—सदैव आज्ञाकारी; आर्य-अङ्घ्रिः—महान् पुरुषों के चरणकमलों पर; पितृ-वत्—पिता के ही समान; दीन-वत्सलः—गरीबों पर दयालु; भ्रातृ-वत्—भाई के ही समान; सदृशे—अपने समान वालों को; स्निग्धः—अत्यन्त प्यारा; गुरुषु—गुरुओं में; ईश्वर-भावनः—भगवान् के समान मानने वाला; विद्या—शिक्षा; अर्थ—धन; रूप—सौन्दर्य; जन्म—कुलीनता; आढ्यः—से सम्पन्न; मान—गर्व; स्तम्भ—अविवेक से; विवर्जितः—पूर्णतया मुक्त ।

[यहाँ पर हिरण्यकशिपु के पुत्र महाराज प्रह्लाद के गुणों का उल्लेख हुआ है] वे योग्य ब्राह्मण के रूप में पूर्णतया संस्कृत, सच्चरित्र तथा परम सत्य को समझने के लिए दृढसंकल्प थे । उन्हें अपनी इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण संयम था । परमात्मा की भाँति वे प्रत्येक जीव के प्रति दयालु थे और हर एक के श्रेष्ठ मित्र थे । वे सम्मानित व्यक्ति के साथ दास की भाँति व्यवहार करते थे, गरीबों के वे पिता तुल्य थे और समानधर्माओं के प्रति वे दयालु भ्राता की तरह अनुरक्त रहने वाले तथा अपने गुरुओं तथा पुराने गुरुभाइयों को भगवान् की तरह मानने वाले थे । वे उस बनावटी गर्व (मान) से पूरी तरह मुक्त थे, जो उनकी अच्छी शिक्षा, धन, सौन्दर्य व उच्च जन्म के कारण संभव था ।

तात्पर्य : ये वैष्णव के कतिपय गुण हैं । वैष्णव स्वतः ब्राह्मण होता है क्योंकि उसमें ब्राह्मण के सारे गुण पाये जाते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

“शान्ति, आत्मसंयम, तपस्या, शुद्धता, सहिष्णुता, निर्व्याजता या साधुता, बुद्धि, ज्ञान तथा धार्मिकता—ये गुण हैं जिनसे ब्राह्मण कार्य करता है ।” (भगवद्गीता १८.४२) ये सारे गुण वैष्णव के शरीर में प्रकट होते हैं । अतएव पूर्ण वैष्णव एक पूर्ण ब्राह्मण भी होता है जैसाकि ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः शब्दों से प्रकट होता है । वैष्णव परम सत्य को समझने के लिए कृतसंकल्प रहता है और परम सत्य को समझने के लिए मनुष्य में अपनी इन्द्रियों तथा मन पर पूरा संयम होना चाहिए । प्रह्लाद महाराज में ये सारे गुण थे । वैष्णव सदैव सबों का शुभेच्छु होता है । उदाहरणार्थ, छह गोस्वामियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है— धीराधीरजनप्रियौ । वे भद्र तथा अभद्र के बीच लोकप्रिय थे । वैष्णव हर एक के लिए समभाव होता है, चाहे उसकी स्थिति कुछ भी क्यों न हो । आत्मवत्—वैष्णव को परमात्मा की

तरह होना चाहिए। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। निस्सन्देह, परमात्मा को किसी से घृणा नहीं होती। वह एक ब्राह्मण के हृदय में भी वास करता है और एक शूकर के भी हृदय में। जिस प्रकार चन्द्रमा चण्डाल के घर में अपनी मनोहर किरणें प्रसारित करने से इनकार नहीं करता उसी प्रकार एक वैष्णव किसी के भी कल्याण के लिए कर्म करने से इन्कार नहीं करता। अतएव वैष्णव अपने गुरु (आर्य) के प्रति सदैव आज्ञाकारी होता है। आर्य शब्द ज्ञान में बड़े-चढ़े व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। जिसमें ज्ञान का अभाव है, वह आर्य नहीं कहला सकता। किन्तु इस समय तो आर्य शब्द का उपयोग नास्तिकों के लिए प्रयुक्त होता है। कलियुग की यही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

गुरु शब्द उस आध्यात्मिक स्वामी को बताता है, जो अपने भक्त को कृष्ण के विज्ञान में अथवा कृष्णभावनामृत में दीक्षित करता है, जैसाकि श्रील विश्वनाथ ठाकुर ने बताया है (श्री भगवान्-मन्त्रोपदेशके गुरावित्यर्थः)।

नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः

श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक् ।

दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा

प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; उद्विग्न—विचलित; चित्तः—जिसकी चेतना; व्यसनेषु—कठिन परिस्थितियों में; निःस्पृहः—इच्छारहित; श्रुतेषु—सुनी हुई बातों में (विशेषतया पुण्यकर्मों के कारण स्वर्ग लोक को उत्थान); दृष्टेषु—साथ ही क्षणिक दृश्य वस्तुओं में; गुणेषु—भौतिक प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत इन्द्रियतृप्ति वाले विषयों में; अवस्तु-दृक्—देखते हुए मानो असार हों; दान्त—नियमित करते हुए; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—सजीव शक्ति; शरीर—शरीर; धीः—तथा बुद्धि; सदा—सदैव; प्रशान्त—शान्त किया गया; कामः—जिसकी भौतिक इच्छाओं से; रहित—पूर्णतया विहीन; असुरः—आसुरी प्रकृति; असुरः—यद्यपि असुर वंश में उत्पन्न।

यद्यपि प्रह्लाद महाराज का जन्म असुर वंश में हुआ था, किन्तु वे स्वयं असुर न होकर भगवान् विष्णु के परम भक्त थे। अन्य असुरों की तरह वे कभी भी वैष्णवों से ईर्ष्या नहीं करते थे। कठिन परिस्थिति आने पर वे कभी क्षुब्ध नहीं होते थे और वेदों में वर्णित सकाम कर्मों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भी रुचि नहीं लेते थे। निस्सन्देह, वे हर भौतिक वस्तु को व्यर्थ मानते थे; इसलिए वे भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया रहित थे। वे सदैव अपनी इन्द्रियों तथा प्राणवायु पर संयम रखते थे। स्थिरबुद्धि तथा संकल्पमय होने के कारण उन्होंने सारी विषय-वासनाओं का दमन कर लिया था।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि कोई मनुष्य केवल जन्म के कारण योग्य अथवा अयोग्य नहीं होता। प्रह्लाद महाराज जन्म से असुर थे फिर भी उनमें पूर्ण ब्राह्मण के सारे गुण पाये जाते थे (ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः)। कोई भी व्यक्ति गुरु के निर्देशन के अन्तर्गत पूर्णतया योग्य बन सकता है। प्रह्लाद महाराज इसका ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि किस प्रकार गुरु का चिन्तन करके उनके आदेशों को शान्तिपूर्वक ग्रहण किया जाये।

यस्मिन्महद्गुणा राजनृह्यन्ते कविभिर्मुहुः ।
न तेऽधुना पिधीयन्ते यथा भगवतीश्वरे ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; महत्-गुणा:—उच्च दिव्य गुण; राजन्—हे राजा; गृह्यन्ते—यशोगान किया जाता है; कविभिः—विचारवान् तथा ज्ञानी पुरुषों द्वारा; मुहुः—सदैव; न—नहीं; ते—वे; अधुना—आजकल; पिधीयन्ते—अदृश्य हो जाते हैं; यथा—जिस तरह; भगवति—भगवान् में; ईश्वरे—परम नियन्ता में।

हे राजा, आज भी प्रह्लाद महाराज के सद्गुणों का यशोगान विद्वान सन्तों तथा वैष्णवों द्वारा किया जाता है। जिस तरह सारे सद्गुण सदैव भगवान् में विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार वे उनके भक्त प्रह्लाद महाराज में भी सदैव पाये जाते हैं।

तात्पर्य : प्रामाणिक शास्त्र से पता चलता है कि प्रह्लाद महाराज अब भी वैकुण्ठलोक के साथ-साथ इसी भौतिक जगत में रहते हैं। एक साथ विभिन्न स्थानों में रहने का यह दिव्य गुण भगवान् की दूसरी योग्यता है। गोलोक एव निवसत्यखिलात्म-भूताः—यद्यपि भगवान् हर एक के हृदय में प्रकट होते हैं, तो भी वे अपने निजी लोक गोलोक वृन्दावन में रहते हैं। भक्त अपनी अनन्य भक्ति के कारण भगवान् जैसे ही गुण प्राप्त कर लेता है। सामान्य जीव इतने योग्य नहीं हो सकते, किन्तु एक भक्त पूरी तरह नहीं परंतु अंशतः भगवान् की ही तरह योग्य हो सकता है।

यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप ।
प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवाद्दशाः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; साधु-गाथा-सदसि—ऐसे सभा में जहाँ साधु पुरुष एकत्र होते हैं या उच्च लक्षणों (गुणों) की व्याख्या होती है; रिपवः—ऐसे व्यक्ति जो प्रह्लाद महाराज के शत्रु माने गये (प्रह्लाद जैसे भक्त के भी शत्रु थे जिसमें उनका पिता तक सम्मिलित था); अपि—भी; सुराः—देवतागण (जो असुरों के शत्रु हैं और चूँकि प्रह्लाद महाराज असुर वंश में जन्मे थे अतएव देवताओं को उनका शत्रु होना चाहिए); नृप—हे राजा युधिष्ठिर; प्रतिमानम्—भक्तों में सर्वश्रेष्ठ के उदाहरणरूप; प्रकुर्वन्ति—वे करते हैं; किम् उत—उनके विषय में क्या कहा जाये; अन्ये—दूसरे; भवाद्दशाः—आपके समान महापुरुष।

हे राजा युधिष्ठिर, किसी भी सभा में जहाँ सन्तों तथा भक्तों की चर्चाएँ चलती हैं वहाँ पर असुरों के शत्रु देवतागण तक प्रह्लाद महाराज को परम भक्त के रूप में उदाहृत करते हैं। आपका तो कहना ही क्या जो प्रह्लाद महाराज का उदाहरण सदा देते रहते हैं।

गुणैरलमसङ्ख्यैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते ।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

गुणैः—आध्यात्मिक गुणों से युक्त; अलम्—क्या आवश्यकता है; असङ्ख्यैः—जो असंख्य हैं; माहात्म्यम्—महानता; तस्य—उसकी (प्रह्लाद महाराज की); सूच्यते—सूचित किया जाता है; वासुदेवे—भगवान् कृष्ण में जो वसुदेव के पुत्र हैं; भगवति—भगवान्; यस्य—जिसकी; नैसर्गिकी—प्राकृतिक; रतिः—आसक्ति।

भला ऐसा कौन है, जो प्रह्लाद महाराज के असंख्य दिव्य गुणों के नाम गिना सके? उनको वासुदेव भगवान् श्री कृष्ण (वसुदेव के पुत्र) में अविचल श्रद्धा एवं अनन्य भक्ति थी। भगवान् कृष्ण के प्रति उनकी अनुरक्ति अपनी पूर्व भक्ति के कारण स्वाभाविक थी। यद्यपि उनके सद्गुणों की गणना नहीं की जा सकती, किन्तु उनसे सिद्ध होता है कि वे महात्मा थे।

तात्पर्य : दशावतारों की स्तुति में जयदेव गोस्वामी कहते हैं—केशव धृतनरहरिरूप जय जगदीश हरे। प्रह्लाद महाराज भगवान् नृसिंह के भक्त थे, जो केशव या साक्षात् कृष्ण हैं। अतएव इस श्लोक में वासुदेव भगवति शब्द का यह अर्थ लेना चाहिए कि नृसिंह देव के प्रति प्रह्लाद महाराज की अनुरक्ति वसुदेव के पुत्र वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति थी। इसलिए प्रह्लाद महाराज को महात्मा कहा गया है। जैसाकि भगवान् ने भगवद्गीता (७.१९) में स्वयं पुष्टि की है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

“अनेक जन्मों के बाद जो वास्तव में ज्ञानी है, वह मेरी शरण में आता है और मुझे ही समस्त कारणों के कारण रूप में जानता है। ऐसे महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं।” वसुदेव के पुत्र कृष्ण का महान् भक्त महात्मा होता है, जिसको ढूँढ़ पाना अत्यन्त दुर्लभ है। अगले श्लोक में कृष्ण के प्रति प्रह्लाद महाराज की आसक्ति का वर्णन किया जाएगा। उनका हृदय सदैव कृष्ण के विचारों से पूर्ण रहता था। अतएव प्रह्लाद महाराज कृष्णभावनामृत के आदर्श भक्त हैं।

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

न्यस्त—त्याग करके; क्रीडनकः—सभी प्रकार के खेल-कूद या बचपन में खेल की प्रवृत्ति; बालः—बालक; जड-वत्—आलसी की तरह बिना किसी गतिविधि के; तत्-मनस्तया—कृष्ण में पूर्णतया लीन होने से; कृष्ण-ग्रह—कृष्ण के द्वारा जो कि प्रबल प्रभाव के तुल्य (ग्रह के समान) हैं; गृहीत-आत्मा—जिसका मन पूर्णतया आकृष्ट है; न—नहीं; वेद—समझ पाया; जगत्—सम्पूर्ण भौतिक जगत; ईदृशम्—इस तरह का।

अपने बाल्यकाल के प्रारम्भ से ही प्रह्लाद महाराज को बालकों के खेल-कूद में अरुचि थी। निस्सन्देह, उन्होंने उन सबका परित्याग कर दिया था और कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन होकर शान्त तथा जड़ बने रहते थे। चूँकि उनका मन सदैव कृष्णभावनामृत से प्रभावित रहता था, अतएव वे यह नहीं समझ सके कि यह संसार किस प्रकार से इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में निमग्न रहकर चलता रहता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ऐसे व्यक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं, जो कृष्णभावनामृत में पूर्णतया निमग्न रहता है। चैतन्य-चरितामृत (मध्य ८.२७४) में कहा गया है—

स्थावर-जंगम देखे, ना देखे तार मूर्ति ।

सर्वत्र हय निज इष्ट-देव-स्फूर्ति ॥

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति इस जगत में स्थित होकर भी कृष्ण के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं देखता। यह महाभागवत का लक्षण है। वह सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण देखता है क्योंकि कृष्ण के लिए उसमें शुद्ध प्रेम रहता है। जैसाकि ब्रह्म-संहिता द्वारा (५.३८) पुष्टि की गई है:-

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो उस भक्त द्वारा सदा देखे जाते हैं जिसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा हुआ है। वे भक्त के हृदय में स्थित अपने नित्य श्यामसुन्दर स्वरूप में देखे जाते हैं।” ऐसा दुर्लभ महात्मा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होता है और वह अपने हृदय में भगवान् का निरन्तर दर्शन करता रहता है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि यदि व्यक्ति पर शनि, राहु

अथवा केतु जैसे बुरे ग्रहों का प्रभाव होता है, तो वह किसी भावी कार्य में उन्नति नहीं कर पाता। इसके ठीक विपरीत, प्रह्लाद महाराज कृष्ण रूपी परम ग्रह द्वारा प्रभावित थे। अतएव वे भौतिक जगत के विषय में न तो सोच सकते थे, न कृष्णभावनामृत के बिना जीवित रह सकते थे। यह *महाभागवत* का लक्षण है। भले ही कोई कृष्ण का शत्रु क्यों न हो, *महाभागवत* उसे भी कृष्ण की सेवा में संलग्न देखता है। एक अन्य मोटा उदाहरण यह है कि पीलियाग्रस्त आँखों को सब कुछ पीला दिखता है। इसी प्रकार *महाभागवत* को अपने अतिरिक्त हर व्यक्ति कृष्ण की सेवा में संलग्न प्रतीत होता है।

प्रह्लाद महाराज प्रमाणित *महाभागवत* अर्थात् परम भक्त हैं। पिछले श्लोक में बताया गया है कि उनमें नैसर्गिक अनुरक्ति थी (नैसर्गिकी रतिः)। इस श्लोक में कृष्ण के प्रति ऐसी नैसर्गिक रति के लक्षण वर्णित हैं। यद्यपि प्रह्लाद महाराज अभी बच्चे थे किन्तु उन्हें खेलने में कोई रुचि न थी। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (११.२.४२) में कहा गया है *विरक्तिरन्यत्र च*—पूर्ण कृष्णभावनामृत का लक्षण है कि मनुष्य सारे भौतिक कार्यकलापों में कोई रुचि नहीं लेता। एक छोटे से बालक के लिए खेल-कूद छोड़ पाना असम्भव है, किन्तु प्रह्लाद महाराज उत्कृष्ट भक्ति में स्थित रहने के कारण सदैव कृष्णभावनामृत की समाधि में लीन रहते थे। जिस प्रकार एक भौतिकतावादी सदैव भौतिक लाभ के विचारों में खोया रहता है उसी तरह प्रह्लाद महाराज जैसा *महाभागवत* सदैव कृष्ण के विचारों में मग्न रहता है।

आसीनः पर्यटन्नश्नशयानः प्रपिबन्ब्रुवन् ।

नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

आसीनः—बैठते; पर्यटन्—घूमते; अश्नन्—खाते; शयानः—सोते; प्रपिबन्—पीते; ब्रुवन्—बोलते; न—नहीं; अनुसन्धत्ते—जान पाया; एतानि—ये सारे कार्यकलाप; गोविन्द—भगवान् द्वारा, जो इन्द्रियों को जगाने वाले हैं; परिरम्भितः—आलिंगित होकर।

प्रह्लाद महाराज सदैव कृष्ण के विचारों में लीन रहते थे। इस प्रकार भगवान् द्वारा आलिंगित उन्हें यह पता भी नहीं चल पाता था कि उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ यथा बैठना, चलना, खाना, सोना, पीना तथा बोलना किस तरह स्वतः सम्पन्न होती थीं।

तात्पर्य : एक छोटा बालक अपनी माता द्वारा लालन-पालन किये जाने पर यह नहीं जान पाता कि किस तरह खाने, सोने, लेटने, मल-मूत्र विसर्जन जैसी शरीर की आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं। वह केवल अपनी माता की गोद में पड़े रहने से सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज एक छोटे से

बालक के तुल्य थे जिसकी देख-रेख गोविन्द द्वारा की जा रही थी। उनके शरीर के आवश्यक कार्यकलाप अनजाने ही सम्पन्न हो रहे थे। जिस प्रकार माता-पिता अपने बालक की देख-रेख करते हैं उसी प्रकार गोविन्द के विचारों में मग्न प्रह्लाद महाराज की रक्षा गोविन्द करते थे। यही कृष्णभावनामृत है। प्रह्लाद महाराज कृष्णभावनामृत की पूर्ण सिद्धि के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

क्वचिद्गुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।

क्वचिद्भ्रसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; रुदति—रोता है; वैकुण्ठ-चिन्ता—कृष्ण के विचारों से; शबल-चेतनः—जिसका मन मोहग्रस्त; क्वचित्—कभी; हसति—हँसता है; तत्-चिन्ता—उसके विचारों से; आह्लादः—प्रमुदित होकर; उद्गायति—उच्च स्वर में कीर्तन करता है; क्वचित्—कभी।

कृष्णभावनामृत में प्रगति होने से वह कभी रोता था, कभी हँसता था, कभी हर्षित होता था और कभी उच्च स्वर में गाता था।

तात्पर्य : इस श्लोक से बालक से भक्त की तुलना का और भी स्पष्टीकरण होता है। यदि माता बालक को पालने पर छोड़कर कोई घरेलू कार्य करने चली जाती है, तो बालक तुरन्त जान लेता है कि माता दूर चली गई है, अतएव वह रोने लगता है। किन्तु जैसे ही माता लौटकर बच्चे को लाड-प्यार करती है त्योंही बच्चा हँसने लगता है और प्रफुल्लित हो उठता है। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज कृष्ण के विचारों में सदैव मग्न रहने के कारण कभी-कभी यह सोचकर वियोग का अनुभव करते थे कि “कृष्ण कहाँ हैं?” इसकी व्याख्या श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा की गई है। शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे। जब महान् भक्त अनुभव करता है कि कृष्ण चले गये हैं या अदृश्य हैं, तो वह विरह में रोता है और जब कभी देखता है कि कृष्ण उसकी रखवाली करने के लिए लौट आये हैं, तो वह हँसता है, जिस तरह कभी-कभी बालक यह समझकर हँसता है कि उसकी माँ उसकी देखभाल कर रही है। ये लक्षण भाव कहलाते हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्त के इन भावों का पूर्ण वर्णन किया गया है। ये भाव पूर्ण भक्त के कार्यकलापों में दृष्टिगोचर होते रहते हैं।

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।

क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नदति—जोर से चीखता (हे कृष्ण कहकर); क्वचित्—कभी; उत्कण्ठः—उत्सुक होकर; विलज्जः—लाजरहित; नृत्यति—नाचता है; क्वचित्—कभी; क्वचित्—कभी; तत्-भावना—कृष्ण के भावों से युक्त; युक्तः—लीन होकर; तत्-मयः—ऐसा सोचते हुए कि वह कृष्ण बन गया है; अनुचकार—अनुकरण किया; ह—निस्सन्देह।

कभी भगवान् का दर्शन करके प्रह्लाद महाराज पूर्ण उत्सुकतावश जोर से पुकारने लगते। कभी-कभी वे प्रसन्नतावश अपनी लज्जा खो बैठते और हर्ष के भावावेश में नाचने लगते। कभी-कभी कृष्ण के भावों में विभोर होकर वे भगवान् से एकाकार होने का अनुभव करते और उनकी लीलाओं का अनुकरण करते।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज कभी यह अनुभव करते कि भगवान् उनसे दूर चले गये हैं, तो वे जोर से उन्हें पुकारते। जब वे देखते कि भगवान् उनके समक्ष हैं, तो वे प्रमुदित होते। कभी-कभी अपने आपको परम में लीन समझ कर वे भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करते और भगवान् से विलग होने पर वे उन्माद के लक्षण प्रकट करते। भक्त की इन भावनाओं को निर्विशेषवादी कभी भी समझ नहीं सकेंगे। इसके लिए मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान के भीतर प्रवेश करना होता है। प्रथम अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म की होती है किन्तु परमात्मा तथा अन्ततोगत्वा भगवान् की अनुभूति के लिए और आगे जाना होता है। तब भक्त भगवान् की शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य या माधुर्य जैसे दिव्य भावों से पूजा करता है। यहाँ पर प्रह्लाद महाराज की भावना वात्सल्य रस की थी। जिस प्रकार माता के दूर चले जाने पर बालक रोता है उसी प्रकार जब प्रह्लाद महाराज को लगता कि भगवान् दूर हैं, तो वे रोने लगते (नदति)। पुनः प्रह्लाद जैसे भक्त कभी-कभी उन्हें शान्त करने के लिए भगवान् को माता के समान दूर से आते देखते हैं और बालक से यह कहते सुनते हैं “मेरे बेटे! मत रोओ। मैं आ रही हूँ।” तब भक्त अपने चारों ओर की परिस्थितियों की परवाह न करके यह सोचते हुए नाचने लगता है—“ये रहे मेरे स्वामी! मेरे स्वामी आ रहे हैं।” इस प्रकार भक्त पूर्णतः हर्षित होकर कभी-कभी भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करता है, जिस तरह ग्वाले जंगली जानवरों के आचरण की नकल उतारते हैं। किन्तु वह सचमुच भगवान् नहीं बनता। प्रह्लाद महाराज ने यहाँ पर वर्णित आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति के द्वारा प्राप्त कर ली थी।

क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।

अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; उत्पलकः—रोमांचित होकर; तूष्णीम्—पूर्णतया मौन; आस्ते—रहता है; संस्पर्श-निर्वृतः—भगवान् के सम्पर्क में अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव करते हुए; अस्पन्द—स्थिर; प्रणय-आनन्द—प्रेम सम्बन्ध के कारण दिव्य आनन्द से; सलिल—अश्रु भर कर; आमीलित—अधखुली; ईक्षणः—जिसकी आँखें।

कभी-कभी भगवान् के करकमलों का स्पर्श अनुभव करके वे आध्यात्मिक रूप से प्रसन्न होते और मौन बने रहते, उनके शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते (रोमांच हो आता) और भगवान् के प्रेम के कारण उनके अर्धनिमीलित नेत्रों से अश्रु ढुलकने लगते।

तात्पर्य : जब भक्त को भगवान् के वियोग का अनुभव होता है, तो वह उन्हें देखने के लिए आतुर हो उठता है और कभी-कभी जब उसे वियोग की पीड़ा सताती है, तो उसके अधखुले नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने शिक्षाष्टक में कहा है युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्। चक्षुषा प्रावृषायितम् का अर्थ है भक्त के नेत्रों से आँसुओं की निरन्तर झड़ी लग जाना। ये लक्षण, जो शुद्ध भक्तिमय आनन्द में प्रकट होते हैं, प्रह्लाद महाराज के शरीर में प्रकट हो रहे थे।

स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-

निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया ।

तन्वन्परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-

दुःसङ्गदीनस्य मनः शमं व्यधात् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (प्रह्लाद महाराज); उत्तम-श्लोक-पद-अरविन्दयोः—भगवान् के चरणकमलों पर, जिसकी पूजा दिव्य स्तुतियों से की जाती है; निषेवया—निरन्तर सेवा द्वारा; अकिञ्चन—उन भक्तों का जिन्हें इस जगत से कुछ भी लेना देना नहीं रहता; सङ्ग—संगति; लब्धया—प्राप्त हुआ; तन्वन्—विस्तार करने वाली; पराम्—सर्वोच्च; निर्वृतिम्—आनन्द; आत्मनः—आत्मा का; मुहुः—निरन्तर; दुःसङ्ग-दीनस्य—बुरी संगति के कारण आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन; मनः—मन को; शमम्—शान्त; व्यधात्—बना दिया।

पूर्ण, अनन्य भक्तों की संगति के कारण जिन्हें भौतिकता से कुछ भी लेना देना नहीं था। प्रह्लाद महाराज निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में लगे रहते थे। जब वे पूर्ण आनन्द में होते तो उनके शारीरिक लक्षणों को देखकर आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन व्यक्ति भी शुद्ध हो जाते थे। दूसरे शब्दों में, प्रह्लाद महाराज उन्हें दिव्य आनन्द प्रदान करते थे।

तात्पर्य : एक तरह से प्रह्लाद महाराज ऐसी स्थिति में थे जिसमें उन्हें अपने पिता द्वारा नित्य ही

सताया जाता था। ऐसी भौतिक स्थिति में किसी का मन अविचल नहीं रह सकता, लेकिन चूँकि भक्ति अहैतुकी (अहैतुक्यप्रतिहता) होती है, अतएव प्रह्लाद महाराज कभी भी हिरण्यकशिपु की प्रताड़ना से विचलित नहीं होते थे। उल्टे, भगवान् के प्रेम में आत्मविभोर होने पर उनके शारीरिक लक्षणों से उनके मित्रों के मन बदलते, जो नास्तिक कुलों में उत्पन्न थे। अपने पिता द्वारा सताये जाने से विचलित होने के बजाय प्रह्लाद महाराज इन मित्रों को प्रभावित करते और उनके मनों को विमल बनाते। भक्त कभी भी भौतिक दशाओं से कलुषित नहीं होता लेकिन भौतिक दशाओं में रहने वाले व्यक्ति शुद्ध भक्त के आचरण को देख कर आध्यात्मिक प्रगति करके आनन्दमय बन जाते हैं।

तस्मिन्महाभागवते महाभागे महात्मनि ।

हिरण्यकशिपू राजन्नकरोदघमात्मजे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; महा-भागवते—भगवान् के परम भक्त में; महा-भागे—अत्यन्त भाग्यशाली; महा-आत्मनि—जिनका मन अत्यन्त उदार है; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; राजन्—हे राजा; अकरोत्—किया; अघम्—अत्यन्त महापाप; आत्म-जे—अपने ही पुत्र के प्रति।

हे राजा युधिष्ठिर, उस असुर हिरण्यकशिपु ने इस महान् भाग्यशाली भक्त प्रह्लाद को सताया था, यद्यपि वह उसका निजी पुत्र था।

तात्पर्य : जब अपनी कठिन तपस्या के बल पर उच्च स्थान पर होते हुए भी हिरण्यकशिपु-जैसा कोई असुर किसी भक्त को तंग करने लगता है, तो उसका पतन होने लगता है और उसकी तपस्याओं के फल क्षीण होने लगते हैं। जो व्यक्ति किसी शुद्ध भक्त को सताता है, वह अपनी सारी तपस्या तथा पुण्यकर्मों के फल खो देता है। चूँकि हिरण्यकशिपु अपने महानतम भक्त पुत्र प्रह्लाद महाराज को प्रताड़ित करने पर तुल गया था, अतएव उसका ऐश्वर्य क्षीण होने लगा।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत ।

यदात्मजाय शुद्धाय पितादात्साधवे ह्यघम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने प्रश्न किया; देव-ऋषे—हे देवताओं में श्रेष्ठ साधु पुरुष; एतत्—यह; इच्छामः—हमारी इच्छा है; वेदितुम्—जानने के लिए; तव—तुमसे; सु-व्रत—आध्यात्मिक उन्नति के लिए दृढ़संकल्प; यत्—क्योंकि; आत्म-जाय—अपने ही पुत्र को; शुद्धाय—जो अत्यन्त शुद्ध तथा सम्मानित था; पिता—पिता हिरण्यकशिपु ने; अदात्—दिया; साधवे—महान् साधु को; हि—निस्सन्देह; अघम्—कष्ट।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे देवर्षि, हे श्रेष्ठ आध्यात्मिक नेता, हिरण्यकशिपु ने शुद्ध तथा श्रेष्ठ सन्त प्रह्लाद महाराज को अपना पुत्र होने पर भी किस प्रकार इतना अधिक कष्ट दिया ? मैं इसे आपसे जानना चाहता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के विषय में और उनके शुद्ध भक्त के गुणों के विषय में यदि किसी को कुछ जानना हो तो उसे देवर्षि नारद जैसे अधिकारी से प्रश्न करना चाहिए। दिव्य विषयों के बारे में अज्ञानी से प्रश्न नहीं करना चाहिए। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२५) में कहा गया है—*सतां प्रसङ्गान् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः*—केवल भक्तों की संगति से भगवान् तथा उनके भक्तों के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। नारद मुनि जैसे भक्त को *सुव्रत* कह कर सम्बोधित किया गया है। *सु* का अर्थ है “अच्छा,” *व्रत* का अर्थ है “प्रतिज्ञा”। इस तरह *सुव्रत* शब्द ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जिसे भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि यह जगत सदा से बुरा रहा है। शुष्क ज्ञान से गर्वित भौतिकतावादी विद्वान से कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक बात नहीं समझ सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति*—मनुष्य को चाहिए कि वह भक्ति द्वारा तथा किसी भक्त से कृष्ण को समझने का प्रयास करे। अतएव युधिष्ठिर महाराज बिल्कुल ठीक ही श्री नारद मुनि से प्रह्लाद महाराज के विषय में और आगे जानना चाह रहे थे।

पुत्रान्विप्रतिकूलान्स्वान्पितरः पुत्रवत्सलाः ।
उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाघमपरो यथा ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

पुत्रान्—पुत्रों को; विप्रतिकूलान्—पिता की इच्छा के प्रतिकूल कर्म करने वाले; स्वान्—अपने ही; पितरः—पिता; पुत्र-वत्सलाः—पुत्रों के प्रति अत्यन्त स्नेह जताने के कारण; उपालभन्ते—प्रताड़ित करते हैं; शिक्ष-अर्थम्—उन्हें पाठ पढ़ाने के लिए; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अघम्—दण्ड; अपरः—शत्रु; यथा—सदृश।

माता तथा पिता सदा ही अपने बच्चों के प्रति वत्सल होते हैं। जब बच्चे आज्ञापालक नहीं होते तो माता-पिता उन्हें किसी शत्रुतावश नहीं, अपितु उन्हें शिक्षा देने तथा उनके भले के लिए दण्ड देते हैं। तो हिरण्यकशिपु ने क्योंकर अपने इतने नेक पुत्र प्रह्लाद महाराज को प्रताड़ित किया ? मैं यह जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।

किमुतानुवशान्साधूंस्तादृशान्गुरुदेवतान् ।

एतत्कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो ।

पितुः पुत्राय यद्द्वेषो मरणाय प्रयोजितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

किम् उत—काफी कम; अनुवशान्—आज्ञाकारी तथा पूर्ण पुत्रों को; साधून्—परम भक्त; तादृशान्—उस तरह के; गुरु-
देवतान्—पिता को भगवान् तुल्य सम्मान देने वाले; एतत्—यह; कौतूहलम्—संशय; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अस्माकम्—हमारा;
विधम—दूर कीजिये; प्रभो—हे स्वामी; पितुः—पिता का; पुत्राय—पुत्र के लिए; यत्—जो; द्वेषः—द्वेष ईर्ष्या; मरणाय—मरने
के लिए; प्रयोजितः—प्रयुक्त।

महाराज युधिष्ठिर ने आगे पूछा : भला एक पिता के लिए यह कैसे सम्भव हुआ कि वह अपने आज्ञाकारी, सदाचारी तथा पिता का सम्मान करने वाले पुत्र के प्रति इतना उग्र बना? हे ब्राह्मण, हे स्वामी, मैंने कभी ऐसा विरोधाभास नहीं सुना कि कोई वत्सल पिता अपने नेक पुत्र को मार डालने के उद्देश्य से उसे दण्डित करे। कृपा करके इस सम्बन्ध में मेरे संशयों को दूर कीजिए।

तात्पर्य : मानव समाज के इतिहास में विरले ही कोई वत्सल पिता अपने नेक तथा भक्त पुत्र को दण्डित करता पाया गया है। अतएव महाराज युधिष्ठिर नारद मुनि से अपने इस संशय को दूर कराना चाहते थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत “ब्रह्माण्ड में हिरण्यकशिपु का आतंक” नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।